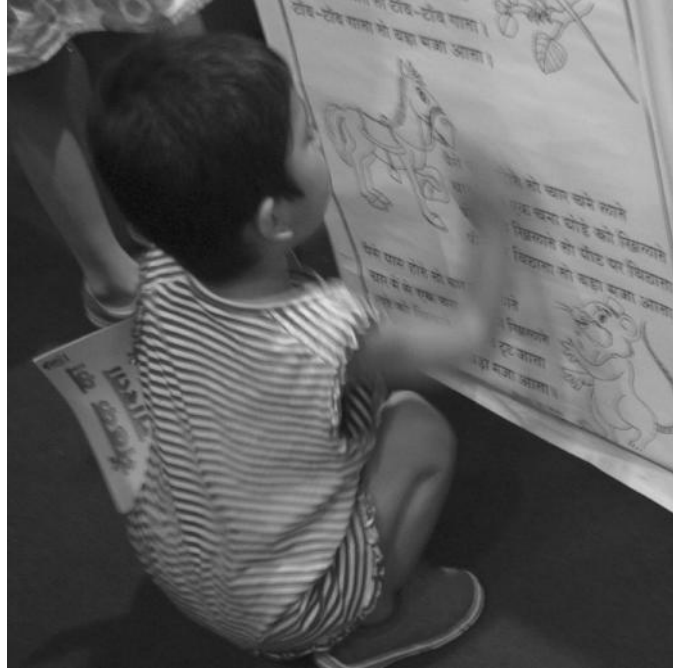


विश्व पुस्तक मेले में बच्चों के साथ (अ)संवाद



सुमित त्रिपाठी

फरवरी 2012 के विश्व पुस्तक मेले में एकलव्य के जिस दल ने हिस्सा लिया, मैं भी उसका एक सदस्य था। मैं एकलव्य की सम्पादकीय टीम का सदस्य होने के नाते बच्चों के लिए किताबें तैयार करने की प्रक्रिया में शामिल रहा, सो अब यह देखने को

उत्सुक था कि ये किताबें पढ़ने के लिए कैसे और क्यों चुनी जाएँगी।

मैं शायद मन में एक रूमानी-सी तस्वीर लिए चल रहा था जिसमें हमारे स्टॉल पर ढेरों-ढेर बच्चे किताबों के पन्ने पलट रहे होंगे। मैंने उम्मीद की थी कि बच्चों से रूबरू होने और किताबें

उनके लिए क्या मायने रखती हैं, ये जानने का यह एक अच्छा मौका होगा। पर दो-एक मौकों को छोड़ दें तो न वो तस्वीर मुकम्मल हुई और न उम्मीद पूरी हुई। एक ऐसा स्टॉल जहाँ बच्चों की किताबें भरी पड़ी हों, वहाँ सिर्फ मुठ्ठी भर बच्चों को पाकर मुझे हैरानी हुई।

पालक, बच्चे और किताबें

यहाँ तो माँ-बाप और शिक्षकों का दबदबा था जिन्होंने लगाम अपने हाथ में थामने का मन बना रखा था। बच्चे अगर माँ-बाप के साथ थे भी तो ज़्यादातर प्रत्यक्षदर्शी की भूमिका में, जबकि पालक यह तय करने में लगे होते थे कि बच्चों के लिए अच्छी किताबें कौन-सी हैं।

ऐसा लगता था जैसे किसी चमत्कार की तरह, एक बच्चे के माँ या पिता बन जाने भर से ही उन्हें बच्चों के साहित्य की पूरी जानकारी और समझ हो गई हो। अगर किसी बच्चे से किसी किताब के बारे में सलाह ली भी जाती थी तो यह आशा रखते हुए कि 'हाँ' ही करेंगे। 'ना' करते ही उसे यह समझाने की कोशिश शुरू हो जाती थी कि यही उसके लिए सही किताब है। मैंने बच्चों से उनकी पसन्द पूछी और कई दफा उन्होंने मुझे बताया भी, पर इससे माँ-बाप की पसन्द नहीं बदली। एक समय के बाद बच्चों से उनकी पसन्द पूछना मुझे जले पर नमक छिड़कने जैसा लगने लगा।

बच्चों की क्रियाशक्ति और स्वतंत्रता का यह हनन डरा देने वाला था। सीखने-सिखाने का ज़रिया तो वे होती ही हैं, साथ ही किताबें बच्चों की कल्पना को उड़ान देती हैं। उन्हें अपनी दुनिया की पड़ताल करने, उसकी एक समझ बनाने के लिए एक दरवाज़ा भी खोलती हैं। बच्चे को उसकी पसन्द की किताब खरीदने से रोकना इस बेहद अहम प्रक्रिया को बाधित करने जैसा है। माँ-बाप ज़्यादातर मुझे यह शिकायत करते मिले कि उन्होंने बच्चों के लिए किताबें तो ढेरों खरीदी हैं पर बच्चे उन्हें पढ़ते ही नहीं। शायद उन्हें यह समझने की ज़रूरत है कि बच्चा वही किताब पढ़ना पसन्द करेगा जो वह खुद चुनकर लाया हो।

किताबों को लेकर ज़्यादातर माँ-बाप में जिस किस्म का रवैया दिखा वह भी परेशान करने वाला था। अधिकतर वे फर्ज़ अदायगी जैसे भाव के साथ आए थे - अच्छी किताबें खरीदने की ज़िम्मेदारी का बोझ कन्धों से उतारने। नैतिक शिक्षा की घुट्टी पिलाने वाली, सतही कौशलों का विकास करने वाली किताबों पर उनका काफी ज़ोर था जबकि कल्पनाशक्ति या नई सूझ जैसी बातें अकसर उनके एजेंडे से नदारद मिलीं। कई अभिभावकों के लिए यह सब कुछ एक नीरस और यांत्रिक प्रक्रिया जैसा था जहाँ किताबों की ओर सुरुचिपूर्ण झुकाव शायद ही रहा हो। उनके लिए यह प्रक्रिया 'शॉपिंग' से अलग नहीं थी और किताबें महज़

‘सामान’ थीं। ‘जल्दी करो भई’ - पिता कई दफे स्टॉल के बाहर से माँ को पुकारते पाए गए। जिस इत्मीनान और आनन्द को मैं पुस्तक मेलों से जोड़ कर देखता हूँ वह दिखाई ही नहीं दिया। ऐसा लगा जैसे अभिभावक बच्चों को बुद्धिमान और सफल बनाने के मिशन पर हों, जैसे उन्हें किताबों की नहीं नुस्खों की तलाश हो।

बहुआयामी पुस्तक मेले

निराशा तो मुझे खुद से भी हुई। मैं हमेशा से मानता आया था कि पुस्तक मेला किताबें बेचने के लिए किया गया आयोजन नहीं है। यह ठीक है कि पुस्तक मेलों में लोग किताबें खरीदते हैं पर उससे कहीं ज़्यादा यह किताबों की दुनिया को देखने-समझने का एक मौका होता है। सो, मैं यह सोचकर पुस्तक मेले के लिए निकला था कि हम वहाँ बहुत-से बच्चों, शिक्षकों व पालकों से बातचीत करेंगे। हम ‘इस वाली किताब’ और ‘उस वाली किताब’ पर अपनी राय रखेंगे, विचार साझा करेंगे। न केवल अपनी पर दूसरे प्रकाशकों की किताबों पर भी चर्चा कर सकेंगे और बाल साहित्य व शिक्षा के मुद्दों से भी दो-चार होंगे।

पर कुछ समय बाद मैंने पाया कि मैं महज़ किताबें बेच रहा हूँ। बच्चों को



दरकिनार कर मैं भी माँ-बाप और शिक्षकों को किताबों की खूबियाँ गिनाने में लग गया कि कौन-सी किताब पढ़ना सीख रहे बच्चों के काम की है और कौन-सी बच्चे की सृजनात्मकता को बढ़ावा देगी। कई दफा मैंने खुद को झूठ बोलने की हद तक किताबों का गुणगान करते पाया। मैं अन्धाधुन्ध किताबें बेचने में जुट गया था और इससे खुश भी था। थोड़ा वक्त लग गया यह एहसास होने में कि मैं क्या कर रहा हूँ और खुद को ऐसा करने से रोकने में।

इन कमियों और दिक्कतों के बावजूद मैंने काफी सारे बच्चों को हमारी किताबों से रूबरू होते देखा।

मैंने कइयों से बातें भी कीं। खुशी हुई उस बच्चे को देखकर जिसने हमारी अधिकतर किताबें पढ़ रखी थीं और अपने माँ-बाप से कहता जाता था, “यह वाली मैंने पढ़ रखी है”, “यह तो मेरे पास है।” उन बच्चों की मदद कर सन्तुष्टि मिली जो स्टॉल की एक-एक किताब को पलटना चाहते थे।

ऐसा लगा कि बच्चों और किताबों के बीच का रिश्ता किसी जादू या प्रेम सरीखा होता है - उसमें ‘क्यों’ और ‘कैसे’ का पता लगाना बड़ा मुश्किल है। अनन्त जिज्ञासा लिए बच्चा एक से दूसरी किताब पर जाएगा या उन्हें उथल-पुथल कर डालेगा। अचानक कोई एक किताब उसे ऐसी प्रिय हो उठेगी कि वो उससे अलग ही नहीं होना चाहेगा।

हमने कुछ मान्यताएँ बना ली हैं: बच्चे जानवरों वाली कहानियाँ पसन्द करते हैं, बच्चे चटक रंगों और चित्रों की तरफ खिंचते हैं। पर मुझे लगा कि बच्चा कोई किताब क्यों चुनता है यह

रहस्य उसके दिल में कहीं गहरे छुपा होता है। पूछने पर शायद वह कोई जवाब दे दे (अगर उसका मन हुआ तो) पर उस जवाब को समझ पाना इतना आसान नहीं। यह मामला किसी प्यारी-सी चिड़िया, या हवाई जहाज़ या रोमांच-कथा से ज़रा ज़्यादा है। शायद इसका ताल्लुक सपनों से है या शायद भय से या आत्मा से।

बहरहाल, मैंने यही सीखा कि बच्चों की किताबें बनाने के लिए पहले आपको उनको प्रेम करना होता है। यह समझना होता है कि बच्चे बेहद संवेदनशील होते हैं - बड़ों से कहीं ज़्यादा। एक बच्चे और उसकी किताब का मामला उनके बीच का निजी मामला है, बेहतर यही है कि हम उसमें ज़्यादा दखलन्दाज़ी न करें। शिक्षाशास्त्रीय पद्धतियाँ, संरचनावाद, मनोवैज्ञानिक प्रणाली वगैरह सब अपनी जगह ठीक हैं पर बच्चों से सीधी बातचीत के सामने ये कहीं नहीं ठहरते - एक ऐसी बातचीत जिसमें हम बच्चों की सुनें।

सुमित त्रिपाठी: एकलव्य के प्रकाशन कार्यक्रम से जुड़े हैं।

अंग्रेज़ी से अनुवाद: जितेन्द्र कुमार: शैक्षणिक शोध और अनुवाद में रुचि। दिल्ली में निवास।

सभी फोटोग्राफ: एकलव्य विश्व पुस्तक मेला टीम।

